पूर्ण न्यायपीठ

माननीय मुख्य न्यायाधीश डी.के. महाजन, माननीय न्यायाधीश प्रीतम सिंह पट्टर और माननीय न्यायाधीश एम. आर. शर्मा के समक्ष

जगजीत राई वोहरा आदि - यचिकाकर्ता

बनाम

हरियाणा राज्य आदि - उत्तरदाता

1973 की सिविल रिट संख्या 3314

24 अप्रैल 1974

पंजाब सिविल सचिवालय (राज्य सेवा वर्ग III) नियम (1952)- नियम 2(डी), 2(जी), 5 और 6-राज्य सरकार द्वारा जारी किए गए प्रशासनिक निर्देश, सहायकों के पदों पर पदोन्नति के लिए पात्र होने के लिए क्लर्कों को विभागीय परीक्षा में उत्तीर्ण होना आवश्यक है- क्या यह नियमों का उल्लंघन है।

अभिनिर्धारित कि पंजाब सिविल सचिवालय (राज्य सेवा वर्ग III) नियम, 1952 के नियम 2(डी), 2(जी), 5 और 6 को संयुक्त रूप से पढ़ने से, एकमात्र संभावित निष्कर्ष यह है कि यह केवल उस समय जब किसी व्यक्ति को सीधे सेवा में नियुक्त किया जाता है तो नियमों का नियम 5 लागू होगा। यह नियम उन व्यक्तियों के मामले से संबंधित नहीं है जो सेवा में हैं और जब उन्हें एक श्रेणी से दूसरी श्रेणी में पदोन्नत किया जाता है या जब उन्हें अन्य सरकारी विभागों से सिविल सचिवालय में एक श्रेणी या तृतीय श्रेणी सेवा के अन्य पदों पर काम करने के लिए स्थानांतरित किया जाता है। नियम 2(डी) में 'सेवा' की परिभाषा के साथ-साथ नियम 5 के ऑपरेटिव शब्द, अर्थात्, 'किसी भी व्यक्ति को तब तक सेवा में नियुक्त नहीं किया जाएगा जब तक कि उसके पास शैक्षिक

और अन्य योग्यताएं न हों', सुझाव देते हैं कि प्रत्यक्ष के मामले में नियुक्ति के लिए दोनों योग्यताएं पूरी करनी होंगी। इस नियम को विच्छेदित तरीके से नहीं पढ़ा जा सकता है, यानी सीधी भर्ती के लिए केवल शैक्षणिक योग्यताएं पूरी करनी होंगी, अन्य योग्यताएं नहीं। यह दृष्टिकोण नियमों के नियम 6(1) (i) (iii) के संदर्भ द्वारा समर्थित है, जो बताता है कि कनिष्ठ लिपिकों के पदों पर पुनर्स्थापकों की पदोन्नति के मामले में, उन्हें एक विभागीय परीक्षा उत्तीर्ण करनी होगी। यदि विचार यह था कि पदोन्नति या स्थानांतरण के प्रत्येक मामले में, एक योग्यता परीक्षा से गुजरना होगा, तो इन नियमों के नियम 6 में इसके लिए प्रावधान किया गया होता जैसा कि एक पुनर्स्थापक के मामले में किया गया था जब उसे जूनियर लिपिक के रूप में पदोन्नत किया गया था।इसलिए राज्य सरकार द्वारा अपने पत्र दिनांक 5 सितंबर, 1958 के माध्यम से जारी किए गए कार्यकारी निर्देश, जिसमें सहायकों के पदों पर पदोन्नति के लिए पात्र होने के लिए क्लर्कों को विभागीय परीक्षा में उत्तीर्ण होने की आवश्यकता है, संविधान के अनुच्छेद 309 के तहत बनाया गया 1952 के नियमों का उल्लंघन है।

(पैरा 7 और 11)

इस संदर्भित मामला को माननीय न्यायमूर्ति महोदय एम. आर. शर्मा द्वारा दिनांक 28 नवंबर, 1973 के आदेश के तहत कानून के एक महत्वपूर्ण प्रश्न के निर्णय के लिए पूर्ण पीठ को आदेश दिया। माननीय मुख्य न्यायाधीश श्री डी.के. महाजन, माननीय श्री न्यायमूर्ति प्रीतम सिंह पट्टर और माननीय श्री न्यायमूर्ति एम.आर. शर्मा की पूर्ण पीठ ने पूर्ण पीठ को संदर्भित प्रश्न पर निर्णय लेने के बाद मामले के फैसले के लिए एकल पीठ को वापस भेज दिया।

भारत के संविधान के अनुच्छेद 226 के तहत याचिका जिसमें प्रार्थना की गई है कि पारित आदेश को रद्द करने के लिए सर्टिओरारी, मैंडेमस, क्वो-वारंटो या किसी अन्य उचित रिट, आदेश या निर्देश की प्रकृति में एक रिट जारी की जाए, उस आदेश के लिए जो प्रतिवादी नंबर 1 द्वारा पारित हैं -(परिपत्र पत्र संख्या 5901-4GSII-73/23071, दिनांक

11 सितंबर, 1973 के माध्यम से), और उत्तरदाताओं को सर्वोच्च न्यायालय के आधिपत्य के फैसले को सभी कर्मचारियों के लिए समान रूप से लागू करने का निर्देश देना, जो अदालत गए और जो नहीं गए, जैसे की उनके बीच कोई भेदभाव नहीं है, और उत्तरदाताओं को परीक्षण आदि संबंधी शर्तों को नजरअंदाज कर नियुक्ति तिथि के आधार पर वरिष्ठता निर्धारित करने का निर्देश भी दिया और साथ ही, प्रतिवादियों को निर्देश दिया जाए कि वे याचिकाकर्ताओं को भारत के माननीय सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय के कार्यान्वयन के परिणामस्वरूप सभी परिणामी राहतें दें, जिसके वे हकदार हैं और और यह भी प्रार्थना की कि रिट याचिका का निपटारा होने तक आगे की पदोन्नतियों पर रोक लगा दी जाए।

याचिकाकर्ताओं की ओर से अधिवक्ता, जे.एल. गुप्ता, एस.सी. सिब्बल और कर्मिंदर सिंह।

जे.एन. कौशल, महाधिवक्ता, हरियाणा और नौबत सिंह, जिला अटॉर्नी, हरियाणा।

प्रतिवादी 3, 5 से 11, 16 से 19 और 21 से 24 के अधिवक्ता, कुलदीप सिंह और आई.एस. सिद्धू।

<u>आदेश</u>

<u>माननीय मुख्य न्यायाधीश डी.के. महाजन :</u>

याचिकाकर्ता हरियाणा सिविल सचिवालय सेवा के सदस्य हैं। वे सहायक के रूप में काम कर रहे हैं। मूल रूप से, उन्हें पंजाब राज्य में 20 नवंबर, 1944 और 13 अगस्त, 1959 के बीच अलग-अलग तारीखों पर क्लर्क के रूप में भर्ती किया गया था, जहां से हरियाणा राज्य बनाया गया था। इन कर्मचारियों की सेवा की शर्तें मूल रूप से पंजाब सिविल सचिवालय सेवा नियम, 1943 (इसके बाद 1943 नियम के रूप में संदर्भित) में निर्धारित की गई थीं। ये नियम भारत सरकार अधिनियम, 1935 की धारा 241 के तहत बनाए गए थे। संविधान लागू होने के बाद,

इन नियमों को निरस्त कर दिया गया था। नियमों का एक नया सेट, अर्थात्, पंजाब सिविल सचिवालय (राज्य सेवा वर्ग III) नियम, 1952 (इसके बाद 1952 नियम से संदर्भित है) को 7 जनवरी, 1952 को प्रख्यापित और अधिसूचित किया गया था। प्रासंगिक 1943 नियम और 1952 नियम एक साथ पुन: प्रस्तुत किए गए हैं: (महामहिम ने 1943 नियम और 1952 नियम पढ़े और फिर आगे बढ़े)।

(2) हालाँकि, 5 सितंबर, 1958 को अपने पत्र द्वारा, पंजाब सरकार, चंडीगढ़ के मुख्य सचिव ने इस आशय के निर्देश जारी किए कि क्लर्कों को सहायकों के पदों पर पदोन्नत होने से पहले एक परीक्षा उत्तीर्ण करनी होगी। उक्त अनुदेशों का प्रासंगिक भाग इस प्रकार है:

> "पंजाब सिविल सचिवालय में सहायकों के रूप में विभागाध्यक्षों के कार्यालयों के अधिकारियों की नियुक्ति के साथ-साथ कैडर में सहायकों की पदोन्नति के लिए, पंजाब लोक सेवा आयोग द्वारा अलग से निर्धारित एक परीक्षा आयोजित की जाएगी। विभागाध्यक्षों के कार्यालयों से संबंधित अधिकारियों के लिए, यह परीक्षा प्रतिस्पर्धी होगी और सचिवालय लिपिकों के लिए यह एक योग्यता परीक्षण होगी।फिलहाल यह परीक्षा अकाउंट्स के साथ-साथ नोटिंग और ड्राफ्टिंग के साथ आयोजित की जाएगी। इस प्रश्न पर अलग से विचार किया जाएगा कि लेखा परीक्षण के किस मानक की परीक्षार्थियों से अपेक्षा करना उचित होगा।"

इन निर्देशों को शमशेर जंग शुक्ला ने एक मुकदमे द्वारा चुनौती दी थी और यह निर्धारित किया गया था कि ये निर्देश अमान्य थे और सेवा को नियंत्रित करने वाले नियमों को खत्म नहीं कर सकते थे। इस निर्णय की इस न्यायालय और बाद में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा पुष्टि की गई और इसे **हरियाणा राज्य बनाम शमशेर जंग शुक्ला (ए.आई.आर. 1972 एस.सी. 1546)** के रूप में रिपोर्ट किया गया। **पंजाब राज्य बनाम मदन सिंह और अन्य (ए.आई.आर. 1972 एस.सी. 1429)** मामले में सर्वोच्च न्यायालय

के आधिपत्य द्वारा निर्धारित कानून भी इसी आशय का है। सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों के बाद, जो क्लर्क परीक्षा उत्तीर्ण करने में असफल रहे थे और परिणामस्वरूप उन्हें सहायक के रूप में पदोन्नत नहीं किया गया था, उन्होंने ऊपर उल्लिखित सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों का लाभ लेने का दावा करते हुए इस न्यायालय में एक संयुक्त रिट याचिका दायर की। उल्लेखनीय है कि सर्वोच्च न्यायालय में अपील के लंबित रहने के दौरान, इस न्यायालय में बड़ी संख्या में रिट याचिकाएँ दायर की गईं और पंजाब और हरियाणा राज्यों द्वारा दायर रिटर्न में, एक अभ्यावेदन दिया गया कि राज्य प्रतीक्षा कर रहे थे, सर्वोच्च न्यायालय की फैसला का। इस बीच, संयुक्त राज्य पंजाब ने सहायकों के पदों पर पदोन्नति के लिए पात्र होने से पहले क्लर्कों द्वारा परीक्षा उत्तीर्ण करने के संबंध में नियमों को पूर्वव्यापी मंजूरी देने के लिए केंद्र सरकार से संपर्क किया। जाहिर है, यह दृष्टिकोण राज्य पुनर्गठन अधिनियम, 1956 की धारा 115 के प्रावधानों के मद्देनजर बनाया गया था। लेकिन राज्य सरकार के इस अनुरोध को अस्वीकार कर दिया गया था।

(3) वर्तमान याचिका में, जो हरियाणा राज्य के खिलाफ निर्देशित है, यह तथाकथित किया गया कि मुख्य सचिव के पत्र दिनांक 5 सितंबर, 1958 के माध्यम से जारी निर्देश वैधानिक नियमों के विपरीत हैं, क्योंकि वे सेवा के सदस्यों को नियंत्रित करने वाली सेवा की शर्तों को बदल देते हैं। यह भी तर्क दिया गया है कि चूंकि ये निर्देश केंद्र सरकार की पूर्व मंजूरी प्राप्त किए बिना जारी किए गए हैं, इसलिए वे याचिकाकर्ताओं को संचालित और नियंत्रित नहीं कर सकते हैं। याचिकाकर्ताओं ने 5 सितंबर, 1958 के पत्र द्वारा जारी निर्देशों की परवाह किए बिना 1952 के नियमों के तहत अपने मामले को निपटाने के लिए सरकार से संपर्क किया। इस अनुरोध को राज्य सरकार ने स्वीकार नहीं किया। बजाय, राज्य सरकार ने दिनांक 11 सितंबर 1973 के पत्र द्वारा निम्नलिखित निर्देश जारी किये:

> "यह मामला राज्य सरकार के विचाराधीन है कि सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों को कैसे बेहतर तरीके से लागू किया जाए। अब यह निर्णय लिया गया है कि इसका लाभ केवल

उन अधिकारियों को दिया जाना चाहिए जो अदालतों में गए और अपने पक्ष में डिक्री प्राप्त की। तदनुसार, उन्हें उचित वरिष्ठता दी जानी चाहिए जैसे कि वर्ष 1958 में सरकार द्वारा जारी निर्देशों या सरकार की पूर्व मंजूरी के बिना बनाए गए सेवा नियमों के अनुसरण के मामलों में परीक्षा उत्तीर्ण करने की कोई आवश्यकता नहीं थी, जैसा कि राज्य पुनर्गठन अधिनियम, 1956 की धारा 115 के तहत आवश्यक है।"

इस प्रकार, हरियाणा राज्य द्वारा अपनाया गया रुख यह है कि सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय का लाभ केवल उन अधिकारियों को दिया जाना चाहिए जो न्यायालय गए और अपने पक्ष में डिक्री प्राप्त की। इस तथ्य के अलावा कि हरियाणा राज्य द्वारा जारी नवीनतम निर्देश सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय के विपरीत हैं, यह दावा किया जाता है कि वे भेदभावपूर्ण होने के कारण संविधान के अनुच्छेद 16 का उल्लंघन करते हैं। यह भी कहा गया है कि सर्वोच्च न्यायालय के फैसले को लागू न करने का असर यह हुआ कि याचिकाकर्ताओं से कहीं कनिष्ठ व्यक्तियों ने सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अवैध घोषित परीक्षण के आधार पर अनुचित वरिष्ठता प्राप्त कर ली।

(4) हरियाणा राज्य की ओर से दाखिल रिटर्न में, अन्य बातों के अलावा, कई प्रारंभिक आपत्तियां उठाई गई हैं:

(ए) कि कई व्यक्तियों द्वारा संयुक्त रिट याचिका सक्षम नहीं है,

(बी) कि सभी याचिकाकर्ताओं जिन्होंने परीक्षा दी, लेकिन अर्हता प्राप्त करने में असफल रहे, उन्हें परिणामी अधिक्रमण को चुनौती देने से रोका जाता है, और

(सी) कि याचिकाकर्ताओं का दावा काफी देर से किया गया था यदि उन्होंने दीवानी मुकदमा दायर किया होता, तो वह विफल हो जाता की परिसीमा पर रोक के कारण।

यह याचिका मेरे विद्वान भाई न्यायाधीश एम. आर. शर्मा, के समक्ष रखी गई थी और उनके आदेश दिनांक 28 नवंबर, 1973 द्वारा विद्वान न्यायाधीश ने मामले को एक बड़ी पीठ के पास भेज दिया। विद्वान न्यायाधीश ने संदर्भ के क्रम में प्रेक्षित किया :

> "यह विवाद, जैसा कि पार्टियों की दलीलों से स्पष्ट हुआ, निम्नलिखित दो मामलों से संबंधित है:
>
> > (ए) क्या पंजाब सरकार, चंडीगढ़ के मुख्य सचिव द्वारा दिनांक 5 सितंबर 1958 के पत्र द्वारा शुरू की गई विभागीय परीक्षा का प्रावधान इस विषय पर वैधानिक नियमों के विपरीत है; और
> >
> > (बी) क्या याचिकाकर्ताओं और उत्तरदाताओं की वरिष्ठता सूची जो 27 नवंबर 1964 को आधिकारिक राजपत्र में प्रकाशित की गई थी, बाद के निर्णयों के परिणामस्वरूप संशोधित की जा सकती है।"

(5) मेरे लिए प्रत्येक याचिकाकर्ता के मामले की गुण-दोष से निपटना आवश्यक नहीं है, क्योंकि यह एक ऐसा मामला है जिसे विद्वान एकल न्यायाधीश द्वारा तय करना होगा जब मामला मुख्य विवादों पर फैसला सुनाने के बाद उनके पास वापस जाएगा जिसे निपटाने के लिए मामले को बड़ी बेंच के पास भेजा गया; मुख्य विवाद ये हैं:

> (1) क्या राज्य सरकार द्वारा 5 सितंबर, 1958 और 11 सितंबर, 1973 को जारी किए गए निर्देश अवैध हैं और मदन सिंह के मामले और शमशेर जंग शुक्ला (सुप्रा) के मामले में, सर्वोच्च न्यायालय ने ऐसा निर्धारित किया है
>
> (2) चाहे इस तथ्य के बावजूद कि इस न्यायालय को काफी देरी के बाद स्थानांतरित किया गया था, किसी एक या अधिक याचिकाकर्ताओं की ओर से इस न्यायालय के

असाधारण क्षेत्राधिकार के प्रयोग में निवारण प्राप्त करने में बाधा उत्पन्न नहीं होगी।

हालाँकि, संदर्भ आदेश के अंत में, विद्वान न्यायाधीश ने प्रेक्षित किया कि याचिका को कुछ तकनीकी आधारों पर खारिज किया जा सकता है; तकनीकी आधार ये हैं:

(1) बड़ी संख्या में व्यक्तियों द्वारा एक संयुक्त याचिका दायर की गई है, जिनके खिलाफ वाद-हेतुक अलग-अलग तिथियों पर उत्पन्न हुए हैं,
(2) कि वाद-हेतुक वर्षों पहले उठे थे और उनके प्रवर्तन की मांग अनुचित देरी के बाद की जा रही है, और
(3) कि केंद्र सरकार द्वारा अनुमोदित पारस्परिक वरिष्ठता को अदालत में चुनौती नहीं दी जा सकती।

हालाँकि, विद्वान न्यायाधीश ने प्रेक्षित किया कि वह लाचेस या अन्य कारणों के आधार पर याचिका को खारिज करने का आसान तरीका अपनाने के लिए तैयार नहीं थे क्योंकि विद्वान न्यायाधीश चाहते थे कि विवाद को आधिकारिक तौर पर हमेशा के लिए सुलझा लिया जाए, और इस तरह मामला सुलझाने के लिए हमारे समक्ष रखा।

(6) पक्षों के विद्वान अधिवक्ता को सुनने के बाद, मेरा विचार है कि जहां तक पहले मामले का संबंध है, यह ऊपर उल्लिखित सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों द्वारा आधिकारिक रूप से तय किया गया है। मदन सिंह के मामले (सुप्रा) में, सर्वोच्च न्यायालय के उनके आधिपत्य ने शमशेर जंग शुक्ला के मामले के निर्णय का पालन किया। शमशेर जंग शुक्ला पेप्सू सरकार के कर्मचारी थे और 1 नवंबर, 1956 से पंजाब और पेप्सू के विलय के बाद पंजाब सरकार के कर्मचारी बन गए। तब से, 1952 के नियम उन पर लागू हो गए। यह तथ्य सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष स्वीकार किया गया। 1952 के नियमों और विशेष रूप से नियमों के नियम 6 की जांच करने के बाद, यह निम्नानुसार प्रेक्षित किया गया:

"यह ध्यान दिया जा सकता है कि यहां हम केवल उन लोगों के सम्बंध में निपट रहे हैं जिन्हें सचिवालय में क्लर्क के कैडर से पदोन्नत किया गया था। निर्णय के लिए उठने वाला पहला सवाल यह है कि क्या सरकार द्वारा अनुच्छेद 309 के तहत बनाए गए नियमों के तहत, निर्धारित योग्यताओं को प्रशासनिक निर्देशों के माध्यम से जोड़ने में सक्षम थी या नहीं। उच्च न्यायालय और निचली अदालतें इस निष्कर्ष पर पहुंची हैं कि सरकार ऐसा करने में अक्षम थी। इस न्यायालय ने **संत राम शर्मा बनाम राजस्थान राज्य ((1968)1 एस.सी.आर. 111 = ए.आई.आर. 1967 एस.सी. 1910.)** में फैसला सुनाया है कि सरकार प्रशासनिक निर्देशों द्वारा वैधानिक नियमों में संशोधन या उन्हें प्रतिस्थापित नहीं कर सकती है, यदि नियम किसी विशेष बिंदु पर चुप हैं और सरकार अंतराल को तो भर सकती है और नियमों को पूरक कर सकती है और निर्देश जारी कर सकती है जो पहले से बनाए गए नियमों के साथ असंगत नहीं हैं। इसलिए हमें यह देखना होगा कि जिन निर्देशों से हम चिंतित हैं, जहां तक सचिवालय में क्लर्कों से संबंधित है, क्या वे अनुच्छेद 309 के तहत बनाए गए नियमों द्वारा निर्धारित सेवा शर्तों में संशोधन या परिवर्तन करते हैं।निस्संदेह, सरकार द्वारा जारी निर्देश उन योग्यताओं को बढ़ाते हैं। सरकार ने नियमों में पहले से तय योग्यताओं को जोड़कर वास्तव में मौजूदा सेवा शर्तों में बदलाव कर दिया है। सरकार द्वारा जारी निर्देश निस्संदेह संबंधित अधिकारियों की पदोन्नति को प्रभावित करते हैं और इसलिए, उनकी सेवा शर्तों से संबंधित होते हैं। सरकार अनुच्छेद 309 के तहत बनाए गए नियमों को प्रशासनिक निर्देशों के माध्यम से बदलने में सक्षम नहीं है। हम राज्य के इस तर्क से सहमत नहीं हो पा रहे हैं कि प्रश्नगत निर्देश जारी करके सरकार ने केवल नियमों में एक अंतर भर दिया

है। नियमों को बिना किसी परेशानी के लागू किया जा सकता है। लेकिन हमें नियमों में कोई कमी नजर नहीं आती।"

इतना कहने के बाद, उनके आधिपत्य आगे बढ़े और फैसला सुनाया कि एक अतिरिक्त आधार है जिस पर भी सरकार की अपील विफल हो जाएगी। यह प्रेक्षित किया गया कि:-

"सरकार की राह में एक और कठिनाई है। पहले उल्लिखित प्रशासनिक निर्देशों के तहत निर्धारित अतिरिक्त योग्यता निस्संदेह सरकारी कर्मचारियों की सेवा की शर्तों से संबंधित है। जैसा कि **मोहम्मद भाकर बनाम वाई कृष्णा रेड्डी (1970 एस.एल.आर. 768 (एस.सी.)** में इस न्यायालय द्वारा निर्धारित किया गया है की कोई भी नियम जो किसी व्यक्ति की पदोन्नति को प्रभावित करता है, उसकी सेवा की शर्तों से संबंधित है और इसलिए, जब तक कि उसे राज्य पुनर्गठन अधिनियम, 1956 की धारा 115 की उप-धारा (7) के प्रावधानों के अनुसार केंद्र सरकार द्वारा अनुमोदित नहीं किया जाता, वह अमान्य है क्योंकि यह राज्य पुनर्गठन अधिनियम की धारा 115 की उप-धारा (7) का उल्लंघन करता है। यह माना गया है कि उन निर्देशों को जारी करने के लिए केंद्र सरकार की मंजूरी नहीं ली गई थी। लेकिन आश्रय केंद्र सरकार के 27 मार्च 1957 के पत्र पर रखा गया, जिसमें केंद्र सरकार ने यात्रा भत्ता, अनुशासन, नियंत्रण, वर्गीकरण अपील, आचरण, परिवीक्षा एवं विभागीय पदोन्नति के मामले में 1 नवंबर 1956 से ठीक पहले प्राप्त सेवा शर्तों में बदलाव के संबंध में राज्य सरकार को अग्रिम मंजूरी दी थी। उस पत्र के दायरे पर इस न्यायालय द्वारा मोहम्मद भाकर के मामले (सुप्रा) में विचार किया गया है। इसमें इस न्यायालय ने निर्धारित किया कि विचाराधीन पत्र को राज्य सरकार को प्रभावित सरकारी सेवकों की

पदोन्नति से संबंधित सेवा की किसी भी शर्त में बदलाव करने की अनुमति देने वाला नहीं माना जा सकता है।"

इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि उनके आधिपत्य ने निश्चित रूप से फैसला सुनाया कि 1952 के नियमों को 5 सितंबर, 1958 के सरकारी पत्र द्वारा जारी कार्यकारी निर्देशों द्वारा संशोधित नहीं किया जा सकता है। इसलिए, यह निर्णय मामले को समाप्त करता है।

(7) हालांकि, राज्य के विद्वान अधिवक्ता ने शमशेर जंग शुक्ला के मामले (सुप्रा) को इस आधार पर अलग करने की मांग की, की सर्वोच्च न्यायालय के उनके आधिपत्य ने 1952 के नियमों के नियम 5 पर ध्यान नहीं दिया, और यह नियम विभागीय परीक्षण का प्रावधान का है। यदि 1952 के नियम 5 के नियम को कर्सरी तौर पर पढ़ा जाए तो ऐसा ही प्रतीत होगा। लेकिन नियमों, विशेष रूप से नियम 2(डी), 2(जी), 5 और 6 को संयुक्त रूप से पढ़ने से एकमात्र संभावित निष्कर्ष यह है कि यह केवल उस समय 1952 के नियम 5, मामले को नियंत्रित करेंगे जब किसी व्यक्ति को सेवा में सीधे नियुक्त किया जाता है।। 1952 के नियमों का नियम 5 उन व्यक्तियों के मामले से संबंधित नहीं है जो सेवा में हैं जब उन्हें एक श्रेणी से दूसरी श्रेणी में पदोन्नत किया जाता है, या जब उन्हें अन्य सरकारी विभागों से सिविल सचिवालय में तृतीय श्रेणी सेवा की एक या दूसरी श्रेणी के पदों पर काम करने के लिए स्थानांतरित किया जाता है। नियम 2(डी) में "सेवा" की परिभाषा नियम 5 के ऑपरेटिव शब्दों के साथ, अर्थात्, "किसी भी व्यक्ति को सेवा में तब तक मूल रूप से नियुक्त नहीं किया जाएगा जब तक कि उसके पास शैक्षिक और अन्य योग्यताएं न हों..... .." सुझाव देता है कि सीधी नियुक्ति के मामले में, दोनों योग्यताएं पूरी करनी होंगी। श्री कौशल चाहेंगे कि नियम को विच्छेदात्मक तरीके से पढ़ा जाए, यानी सीधी भर्ती के लिए केवल शैक्षणिक योग्यताएं पूरी करनी होंगी, अन्य योग्यताएं नहीं। मैं इस व्याख्या से सहमत नहीं हो पा रहा हूँ। वास्तव में, मैंने जो व्याख्या की है, वह पूरी तरह से पुष्ट होती है की यदि 1952 के नियमों के नियम 6(I)(i)(iii) का संदर्भ दिया जाए, जहां, कनिष्ठ लिपिकों के पदों पर पुनर्स्थापकों की पदोन्नति के मामले में,

वहाँ उन्हें एक विभागीय परीक्षा उत्तीर्ण करनी होगी। यदि यह विचार होता कि पदोन्नति या स्थानांतरण के प्रत्येक मामले में एक योग्यता परीक्षा से गुजरना होगा, तो 1952 के नियमों के नियम 6 में इसके लिए प्रावधान किया गया होता जैसा की यह एक पुनर्स्थापक के मामले में किया गया जब उसे कनिष्ठ लिपिक के रूप में पदोन्नत किया जाएगा। इसलिए, विद्वान अधिवक्ता का यह तर्क कि नियम 5 उन व्यक्तियों के मामले को कवर करेगा जिन्हें सेवा की एक श्रेणी से दूसरी श्रेणी में पदोन्नत किया गया है या जो सेवा में एक श्रेणी या दूसरे में स्थानांतरण द्वारा नियुक्त किए गए हैं, को स्वीकार नहीं किया जा सकता है। जैसा कि पहले ही देखा जा चुका है कि यह नहीं माना जा सकता है कि शमशेर जंग शुक्ला के मामले में, मामले का निपटारा करते समय सर्वोच्च न्यायालय के उनके आधिपत्य 1952 के नियमों के नियम 5 से अनभिज्ञ थे। ये नियम उनके आधिपत्य से पहले के थे और उनके आधिपत्य ने जो प्रेक्षित किया है वह नियमों के पूरे सेट पर उचित विचार करने के बाद किया होगा। विपरीत दृष्टिकोण अपनाना उपरोक्त मामलों में उनके आधिपत्य द्वारा निर्धारित नियम के प्रति हिंसा करना होगा। इसलिए, मैं विद्वान अधिवक्ता के इस तर्क को खारिज करता हूँ कि शमशेर जंग शुक्ला के मामले (1) में सर्वोच्च न्यायालय का फैसला मामले को खत्म नहीं करता है। इसलिए, यह स्पष्ट है कि सरकार द्वारा 5 सितंबर, 1958 के पत्र के माध्यम से जारी किए गए प्रशासनिक निर्देश, भारत के संविधान के अनुच्छेद 309 के तहत बनाए गए 1952 के नियमों का उल्लंघन हैं।

(8) यह हमें इस प्रश्न पर लाता है कि क्या याचिकाकर्ता सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय का लाभ पाने के हकदार हैं, इस तथ्य के बावजूद कि उन्होंने अनुचित देरी के बाद न्यायालय का दरवाजा खटखटाया है, और जब उत्तरदाताओं ने उन्हें प्रतिस्थापित कर दिया था और काफी लंबे समय तक उच्च पदों पर बने रहे और काम किया था। एक दृष्टिकोण यह हो सकता था कि जिस क्षण सर्वोच्च न्यायालय ने अपना निर्णय दिया, उत्तरदाताओं द्वारा अमान्य कार्यकारी निर्देशों के तहत प्राप्त लाभ पर विचार किए बिना उस पर प्रभाव डाला जाना चाहिए था। मामले को देखने का दूसरा तरीका यह है कि जब प्रतिवादियों ने उन्हें प्रतिस्थापित

कर दिया था और याचिकाकर्ताओं ने उनके प्रतिस्थापना को चुनौती देने के लिए कोई कार्रवाई नहीं की, और केवल तब जागे जब सर्वोच्च न्यायालय ने अंततः शमशेर जंग शुक्ला के मामले (1) में मामले का निपटारा कर दिया, तो क्या यह इस का न्यायालय उनके पक्ष में अपने विवेक का प्रयोग करना उचित होगा? मामले के इस पहलू पर बहुत सारा साहित्य है। सही दृष्टिकोण यह प्रतीत होता है कि लैचेस को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है और यह देखने के लिए प्रत्येक मामले की जांच करनी होगी कि क्या कोई विशेष याचिकाकर्ता उसे उपलब्ध राहत का हकदार है या नहीं, शमशेर जंग शुक्ला के मामले के सर्वोच्च न्यायालय के फैसले के मद्देनजर। इस स्तर पर इस मामले पर सर्वोच्च न्यायालय के लगभग दर्जनों निर्णयों का उल्लेख करना उचित होगा। **मध्य प्रदेश राज्य और अन्य बनाम भाईलाल भाई और अन्य (ए.आई.आर. 1964 एस.सी. 1006)**, यह प्रेक्षित किया गया:

> "परिसीमा अधिनियम के प्रावधान इस प्रकार लागू नहीं होते हैं अनुच्छेद 226 के तहत राहत देने के लिए। हालाँकि, अधिकतम अवधि विधायिका द्वारा समय के रूप में निर्धारित की जाती है जिसके अंतर्गत सिविल न्यायालय में मुकदमे द्वारा राहत लाई जानी चाहिए और उसे आम तौर पर एक उचित मानक माना जा सकता है जिसके द्वारा अनुच्छेद 226 के तहत रहट मांगने में देरी को मापा जा सकता है। न्यायालय देरी को अनुचित मान सकता है, भले ही यह राहत के लिए दीवानी कार्रवाई के लिए निर्धारित सीमा अवधि से कम हो, लेकिन जहां देरी इस अवधि से अधिक है, तभ अदालत के लिए यह मानना लगभग हमेशा उचित होगा कि यह है अनुचित।"

मेसर्स तिलोकचंद और मोतीचंद और अन्य बनाम एच.बी. मुंशी और अन्य ((1969)1 एस.सी.सी. 110 =(1969)2 एस.सी.आर. 824.) मामले में, यह निर्धारित किया गया था: -

"परिसीमा अधिनियम मौलिक अधिकारों के उल्लंघन के संबंध में राज्य के खिलाफ दावों पर लागू नहीं होते हैं। ऐसे किसी भी अधिकार के उल्लंघन की शिकायत करने वाले व्यक्ति के पास तीन पाठ्यक्रमों में से एक खुला है। वह या तो संविधान के अनुच्छेद 226 के तहत किसी उच्च न्यायालय में आवेदन कर सकता है या वह संविधान के अनुच्छेद 32 के तहत इस न्यायालय में आवेदन कर सकता है, या वह उचित राहत के लिए मुकदमा दायर कर सकता है। भारत में विभिन्न उच्च न्यायालयों के निर्णयों ने इस मामले में दृढ़ता से यह निर्धारित किया है अनुच्छेद 226 के तहत रिट के मुद्दे पर न्यायालयों के पास विवेकाधिकार है और उपयुक्त मामलों में वे इसके पास आने वाले व्यक्ति को राहत देने से इनकार कर सकते हैं, भले ही आवेदक के पास मौलिक अधिकारों के उल्लंघन के संबंध में पर्याप्त शिकायत हो। हालांकि परिसीमा अधिनियम इस पर लागू नहीं होता है, फिर भी न्यायालयों ने लंबी या अनुचित देरी के मामलों में राहत देने से इनकार कर दिया है। जैसा कि भाईलाल भाई के मामले में ऊपर उल्लेख किया गया है, यह प्रेक्षित किया गया कि "हालाँकि, अधिकतम अवधि विधानमंडल द्वारा समय के रूप में निर्धारित की जाती है जिसके अंतर्गत सिविल न्यायालय में मुकदमे द्वारा राहत लाई जानी चाहिए और उसे आम तौर पर एक उचित मानक माना जा सकता है जिसके द्वारा अनुच्छेद 226 के तहत रहट मांगने में देरी को मापा जा सकता है।" देरी के सवाल पर, हमें यह मानने का कोई कारण नहीं दिखता कि जब कोई पक्ष अनुच्छेद 32 के तहत इस न्यायालय में आता है तो अनुच्छेद 226 के तहत आवेदनों पर लागू परीक्षण से अलग परीक्षण लागू किया जाना चाहिए। परिसीमा के सभी क़ानूनों के पीछे एक सार्वजनिक नीति है और हेल्सबरी के इंग्लैंड के कानून (तीसरा संस्करण, खंड 24) के अनुसार, पृष्ठ 181 पर अनुच्छेद 330:

"अदालतों ने परिसीमा क़ानूनों के अस्तित्व का समर्थन करते हुए कम से कम तीन अलग-अलग कारण व्यक्त किए हैं, अर्थात् (1) कि लंबे समय से निष्क्रिय दावों में न्याय की तुलना में क्रूरता अधिक है, (2) कि एक प्रतिवादी ने बासी मांग को खारिज करने के लिए सबूत खो दिया हो सकता है और (3) अच्छे वाद-हेतुक व्यक्तियों को उचित परिश्रम के साथ उन पर अमल करना चाहिए ।"

रवीन्द्रनाथ बोस और अन्य बनाम भारत संघ और अन्य (1970 एस.एल.आर.339=(1970)2 एस.सी.आर. 697) में, उनका आधिपत्य ने इस प्रकार प्रेक्षित किया गया:

"लेकिन जहां तक आक्षेप 1952 नियमों के वरिष्ठता पर आधारित है, इसे किसी अन्य आधार पर विफल होना चाहिए। आधार यह है कि संविधान के अनुच्छेद 32 के तहत यह याचिका 1952 के नियमों के प्रख्यापित होने और 1 अगस्त, 1953 को तैयार की गई वरिष्ठता सूची में उन्हें प्रभावी होने के लगभग पंद्रह साल बाद लाई गई है। याचिकाकर्ता के अधिवक्ता का कहना है कि इस न्यायालय के पास कोई विवेकाधिकार नहीं है और वह अनुच्छेद 32 के तहत याचिका को इस आधार पर खारिज नहीं कर सकता कि यह अत्यधिक देरी के बाद लाया गया है। हम असमर्थ हैं इस तर्क को स्वीकार करने के लिए। इस न्यायालय ने मैसर्स तिलोकचंद मोती चंद और अन्य बनाम एच.बी. मुंशी और अन्य के मामले में बहुमत से निर्धारित किया कि कुछ परिस्थितियों में देरी घातक हो सकती है। हम इसका उल्लेख कर सकते हैं कि **लक्ष्मणप्पा हनुमंतप्पा जामखंडी बनाम भारत संघ और अन्य (1955 एस.सी.आर. 769)** के मामले में, मुख्य न्यायाधीश महाजन ने इस प्रकार प्रेक्षित किया :

"उपरोक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है कि 1947 के विवादित अधिनियम XXX के तहत की गई कार्यवाही, जहां तक जांच आयोग का संबंध है, सितंबर, 1952 में समाप्त हुई, और इस याचिका को इस न्यायालय में प्रस्तुत किए जाने से दो साल से अधिक पहले। याचिकाकर्ता के खिलाफ आयकर अधिनियम के तहत मूल्यांकन आदेश नवंबर, 1963 में दिए गए थे।

इन परिस्थितियों में, हमारी राय है कि वह संविधान के अनुच्छेद 32 के प्रावधानों के तहत किसी राहत का हकदार नहीं है। यह इस न्यायालय द्वारा **रामजीलाल बनाम आयकर अधिकारी, मोहिंदरगढ़ ((1951) एस.सी.आर. 127)** में निर्धारित किया गया था की चूंकि संविधान के अनुच्छेद 265 में एक विशेष प्रावधान है जहाँ कि कानून के अधिकार के अलावा कोई भी कर लगाया या एकत्र नहीं किया जाएगा, इसलिए अनुच्छेद 31 के खंड (1) को संपत्ति के अभाव से संबंधित माना जाना चाहिए। कर का अधिरोपण या संग्रहण, और चूंकि अनुच्छेद 265 द्वारा प्रदत्त अधिकार संविधान के भाग III द्वारा प्रदत्त अधिकार नहीं है, इसलिए इसे अनुच्छेद 32 के तहत लागू नहीं किया जा सकता है। इस निर्णय के मद्देनजर यह निर्धारित। किया जाना चाहिए कि अनुच्छेद 32 के तहत याचिका उस स्थिति में सुनवाई योग्य नहीं है जो उत्पन्न हुई है और यहां तक कि अन्यथा उत्पन्न होने वाली विशिष्ट परिस्थितियों में, किसी भी रिट के मुद्दे को निर्देशित करना उचित नहीं होगा, जिसका मुद्दा कोर्ट के विवेकाधीन है।।"

याचिकाकर्ताओं के विद्वान अधिवक्ता ने दृढ़तापूर्वक आग्रह किया कि मेसर्स तिलोकचंद मोतीचंद के मामले(सुप्रा) में इस न्यायालय के निर्णय की समीक्षा की आवश्यकता है। लेकिन मामले पर सावधानीपूर्वक विचार

करने के बाद, हमारा विचार है कि उन याचिकाकर्ताओं को कोई राहत नहीं दी जानी चाहिए, जो बिना किसी उचित स्पष्टीकरण के, अत्यधिक देरी के बाद संविधान के अनुच्छेद 32 के तहत इस न्यायालय का दरवाजा खटखटाते हैं। इस देश के सर्वोच्च न्यायालय को संविधान के अनुच्छेद 32 के तहत याचिकाओं पर विचार करने का मूल अधिकार क्षेत्र दिया गया है। ऐसा इरादा नहीं हो सकता था कि यह न्यायालय कई वर्षों के अंतराल के बाद बासी मांगों पर विचार करेगा। कहा जाता है कि अनुच्छेद 32 अपने आप में एक सुनिश्चित अधिकार है। ऐसा तो है, लेकिन इससे यह नहीं पता चलता कि संविधान निर्माताओं की मंशा थी कि यह न्यायालय सभी सिद्धांतों को खारिज कर दे और अत्यधिक देरी के बाद दायर याचिकाओं में राहत दे।

हम इस आधार पर याचिकाओं को खारिज करने के लिए उत्सुक नहीं हैं, लेकिन हमें कानून और समता, न्याय और अच्छे विवेक के सिद्धांतों के अनुसार न्याय करना चाहिए। उत्तरदाताओं को उनके द्वारा प्राप्त अधिकारों से वंचित करना अन्याय होगा। प्रत्येक व्यक्ति को आराम से बैठकर यह विचार करने का अधिकार होना चाहिए कि बहुत समय पहले की गई उसकी नियुक्ति और पदोन्नति कई वर्ष बीत जाने के बाद रद्द नहीं की जाएगी। इसी आधार पर इस न्यायालय ने **एस.जी. जयसिंघानी बनाम भारत संघ और अन्य ((1967)2 एस.एल.आर. 482)** ने प्रेक्षित किया कि उस मामले में आदेश से द्वितीय श्रेणी के उन अधिकारियों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा जिन्हें सहायक आयुक्त के रूप में स्थायी रूप से नियुक्त किया गया है। उस मामले में, न्यायालय केवल 1945 से 1950 की अवधि के दौरान की गई नियुक्तियों को चुनौती देने पर विचार कर रहा था। यदि उस मामले में द्वितीय श्रेणी के अधिकारियों, जिन्हें स्थायी रूप से सहायक आयुक्त नियुक्त किया गया था, को बाहर करने का पर्याप्त कारण था, तो बहुत कुछ है इस मामले में अधिक कारण यह है कि जो अधिकारी अब स्थायी सहायक आयकर आयुक्त हैं और जिन्हें 1945 से 1950 के दौरान उनके मूल पदों पर नियुक्त और पदोन्नत किया गया था, उन्हें अकेला छोड़ दिया जाना चाहिए।

हालाँकि, याचिकाकर्ताओं के अधिवक्ता का कहना है कि कोई अनुचित देरी नहीं हुई है। उनका कहना है कि शासन को लगातार प्रत्यावेदन मिलते रहे हैं। लेकिन समय की एक सीमा है जिसे अभ्यावेदन देने के लिए उचित माना जा सकता है। यदि सरकार ने एक अभ्यावेदन को अस्वीकार कर दिया है, तो उसी तर्ज पर एक और अभ्यावेदन देने से याचिकाकर्ता देरी की व्याख्या करने में सक्षम नहीं होंगे। याचिकाकर्ताओं के विद्वान अधिवक्ता का कहना है कि याचिकाकर्ताओं की धारणा थी कि विभागीय पदोन्नति समिति ने 1948 में बैठक की थी, न कि 29 अप्रैल, 1949 को और वास्तविक सही तथ्य 1961 में ज्ञात हुए जब सरकार ने इन तथ्यों का उल्लेख 28 दिसंबर 1961 को लिखे अपने पत्र में किया।

हम इस स्पष्टीकरण को स्वीकार करने में असमर्थ हैं। इस तथ्य का उल्लेख समिति की फरवरी, 1952 में हुई बैठक के विवरण में किया गया है और हम यह विश्वास करने में असमर्थ हैं कि याचिकाकर्ताओं को 1961 तक ये सभी तथ्य पता नहीं थे। लेकिन यह मान भी लिया जाए कि याचिकाकर्ताओं को ये सभी तथ्य दिसंबर 1961 में ही सामने आ गये थे, फिर भी वर्तमान याचिका प्रस्तुत करने में अत्यधिक विलम्ब हुआ है। तथ्य यह है कि जयसिंघानी का मामला उच्च न्यायालय के समक्ष लंबित था और बाद में इस न्यायालय में भी वर्तमान याचिका प्रस्तुत करने में देरी के लिए कोई बहाना नहीं है।"

बिकरमजीत भंडारी बनाम पंजाब राज्य और अन्य (1970 के सी.डब्ल्यू. संख्या 3268 का निर्णय 14 जनवरी 1971 को हुआ), **तेज भान शुक्ला बनाम पंजाब राज्य और अन्य (सी.डब्ल्यू. क्रमांक 772 सन् 1971 का निर्णय 10 अगस्त 1972 को हुआ), और बख्शीश सिंह बनाम पंजाब राज्य और अन्य (सी.डब्लू. क्रमांक 3423 सन् 1970 का निर्णय 30 अप्रैल 1973 को हुआ)** में इस न्यायालय के तीन निर्णयों में टिप्पणियाँ समान प्रभाव वाली हैं। आखिरी दो फैसले लेटर्स पेटेंट के खंड एक्स के तहत अपील में पुष्टि की गई थी।

(9) याचिकाकर्ताओं के विद्वान अधिवक्ता श्री जे.एल. गुप्ता ने जब इस स्थिति का सामना किया तो उन्होंने **रामचन्द्र शंकर देवधर और अन्य बनाम महाराष्ट्र राज्य और अन्य (1974 एस.एल.आर. 470 (एस.सी.))** पर आश्रय किया। इस मामले में, विचाराधीन नियम 7 अप्रैल, 1961 से लागू थे, लेकिन औरंगाबाद डिवीजन के आयुक्त ने 18 अक्टूबर, 1960 को अपने पत्र द्वारा और जनवरी, 1961 में राजस्व विभाग के तत्कालीन सचिव ने याचिकाकर्ताओं को सूचित किया कि पुनर्गठित राज्य बॉम्बे में डिप्टी कलेक्टर के पद पर भर्ती के नियमों को अभी तक एकीकृत नहीं किया गया है और याचिकाकर्ता पूर्व-हैदराबाद राज्य के नियमों के द्वारा शासित होते रहेंगे और 30 जुलाई, 1959 के नियमों का उन पर कोई अनुप्रयोग नहीं होगा। इन तथ्यों पर सर्वोच्च न्यायालय ने प्रेक्षित किया:

> "इसलिए, याचिकाकर्ताओं को इस धारणा पर आगे बढ़ना उचित था कि डिप्टी कलेक्टरों के पदों पर भर्ती के लिए कोई एकीकृत नियम नहीं थे और राज्य सरकार द्वारा की जा रही पदोन्नति केवल अनंतिम थी, जिसे भर्ती के एकीकृत नियमों के तहत नियमित किया जाना था। जब कपूर के मामले में याचिका पर बॉम्बे हाई कोर्ट ने फैसला सुनाया, तभी याचिकाकर्ताओं को पता चला कि उस याचिका में राज्य सरकार का यह मामला था और उस मामले को बॉम्बे हाई कोर्ट ने स्वीकार कर लिया था, कि 30 जुलाई, 1959 के नियम, पूरे बॉम्बे राज्य में लागू डिप्टी कलेक्टरों के पदों पर भर्ती के एकीकृत नियम थे। इसके बाद याचिकाकर्ताओं ने वर्तमान याचिका दायर करने में कोई समय नहीं गंवाया। इसके अलावा, क्या याचिका में डिप्टी कलेक्टरों के पदों पर पदोन्नति करने की प्रक्रिया की वैधता को चुनौती दी गई है - चाहे वह समान अवसर खंड का उल्लंघन हो- और चूंकि यह प्रक्रिया अतीत की बात नहीं है, लेकिन अभी भी इसका राज्य सरकार द्वारा पालन किया जा रहा है, यह वांछनीय है कि इसकी संवैधानिकता का निर्णय

तब किया जाना चाहिए जब प्रश्न न्यायालय के समक्ष उचित रूप से व्यथित पक्षों के अनुरोध पर आया हो। यह भी ध्यान दिया जाना चाहिए कि जिस सिद्धांत पर कोर्ट ने विलंब या देरी के आधार पर याचिकाकर्ता को राहत देने से इनकार करने का अर्थ यह है कि याचिका दायर करने में देरी के कारण दूसरों को जो अधिकार प्राप्त हुए हैं, उन्हें तब तक परेशान नहीं होने दिया जाना चाहिए जब तक कि देरी के लिए उचित स्पष्टीकरण न हो। इस सिद्धांत को तिलोकचंद बनाम एच.बी. मुंशी में मुख्य न्यायाधीश हिदायतुल्ला द्वारा निम्नलिखित शब्दों में कहा गया था:
"मौलिक अधिकारों का दावा करने वाले पक्ष को अन्य अधिकारों के अस्तित्व में आने से पहले न्यायालय का रुख करना चाहिए। यदि न्यायालय का रुख करने वाले व्यक्ति की ओर से देरी के कारण उनके अधिकार सामने आते हैं तो न्यायालय की कार्रवाई निर्दोष पक्षों को नुकसान नहीं पहुंचा सकती है।"

सीकरी, न्यायाधीश (जैसा कि वह तब थे) ने भी उसी सिद्धांत को समान रूप से सम्मानित भाषा में दोहराया जब उन्होंने आर.एन. बोस बनाम भारत संघ (7) में कहा: "उत्तरदाताओं को अधिकारों से वंचित करना अन्याय होगा जो उन्हें प्राप्त हुआ है। प्रत्येक व्यक्ति को आराम से बैठने और यह विचार करने का अधिकार होना चाहिए कि बहुत समय पहले प्रभावित उसकी नियुक्ति और पदोन्नति कई वर्षों के अंतराल के बाद रद्द नहीं की जाएगी।" यहां, जैसा कि राज्य सरकार ने उत्तर में शपथपत्र के पैराग्राफ 55 में स्वीकार किया है, राज्य सरकार द्वारा की गई सभी पदोन्नतियां अनंतिम हैं और स्थिति को याचिकाकर्ताओं के पूर्वाग्रह के अनुसार स्पष्ट नहीं किया गया है। इसलिए, याचिका दायर करने में देरी के कारण दूसरों के पक्ष में कोई अधिकार अर्जित नहीं हुआ है। पदोन्नति अनंतिम होने के

कारण, उन्होंने पदोन्नत लोगों को कोई अधिकार प्रदान नहीं किया है और यदि सही कानूनी स्थिति, जैसा कि अंतिम रूप से निर्धारित किया जाएगा की आवश्यकता होती है, तो वे अपने स्वभाव से ही अमान्य होने के लिए उत्तरदायी हैं। हमें याचिकाकर्ताओं के विद्वान अधिवक्ता ने भी बताया है, और राज्य सरकार की ओर से उपस्थित विद्वान अधिवक्ता ने भी इसका खंडन नहीं किया है, की भले ही याचिकाओं को अनुमति दे दी गई हो और याचिकाकर्ताओं द्वारा राहत के दावा में राहत दे दी गयी हो लेकिन ऐसा परिणामस्वरूप नहीं होगा कि किसी भी डिप्टी कलेक्टर या कार्यवाहक डिप्टी कलेक्टर को मामलातदार/ तहसीलदार के पद पर वापस भेज दिया जाएगा; इसका एकमात्र प्रभाव कार्यवाहक डिप्टी कलेक्टर या डिप्टी कलेक्टर के रूप में उनकी परस्पर वरिष्ठता को परेशान करना होगा। इसके अलावा, यह देखा जा सकता है कि अनुच्छेद 16 के तहत समान अवसर के मौलिक अधिकारों को लागू करने का दावा स्वयं एक मौलिक अधिकार है जिसकी अनुच्छेद 32 के तहत गारंटी दी गई है और यह न्यायालय, जिसे मौलिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए एक प्रहरी की भूमिका सौंपी गई है, आसानी से खुद को लापरवाही, देरी या इसी तरह के किसी अन्य आधार पर राहत देने से इनकार करने के लिए राजी नहीं कर सकता है।"

याचिकाकर्ताओं के अधिवक्ता श्री गुप्ता ने तब **माखन लाल वाजा और अन्य बनाम जम्मू और कश्मीर राज्य और अन्य (ए.आई.आर. 1971 एस.सी. 2206)** पर आश्रय किया। वह मामला बिल्कुल अलग आधार पर खड़ा है। उस मामले में, सर्वोच्च न्यायालय ने भर्ती के मामले में राज्य सरकार की सांप्रदायिक नीति को भारत के संविधान के अनुच्छेद 16 का उल्लंघन होने के कारण रद्द कर दिया। इसके बावजूद राज्य सरकार सर्वोच्च न्यायालय के फैसले को नजरअंदाज कर अपनी सांप्रदायिक नीति

पर चलती रही। सर्वोच्च न्यायालय के फैसले के बाद की गई भर्तियों को न्यायालय ने खराब मानते हुए खारिज कर दिया। इसलिए, जहां तक वर्तमान मामले का संबंध है, इस मामले में कोई समानता नहीं है। जहां तक मौजूदा मामले का सवाल है, किसी तीसरे पक्ष को कोई अधिकार मिलने का कोई सवाल ही नहीं है। मेरी राय में, याचिकाकर्ताओं के मामले से निपटने की सही प्रक्रिया यह है कि प्रत्येक व्यक्तिगत मामले की जांच विद्वान एकल न्यायाधीश द्वारा की जाएगी ताकि यह पता लगाया जा सके कि इस न्यायालय में आने में देरी घातक है या नहीं। यदि किसी विशेष मामले में रामचन्द्र शंकर देवधर के मामले (14) (सुप्रा) जैसे तथ्य और परिस्थितियाँ हैं, तो विद्वान एकल न्यायाधीश याचिकाकर्ता को राहत देगा। लेकिन जहां कोई आकस्मिक परिस्थितियां नहीं हैं और लाचेस स्पष्ट हैं और लाचेस के आधार पर किसी विशेष याचिकाकर्ता के दावे को खारिज करने के अलावा कोई विकल्प नहीं बचेगा।

(10) वरिष्ठता सूची के प्रश्न के संबंध में - संदर्भ क्रम में मेरे विद्वान भाई शर्मा, न्यायाधीश द्वारा उजागर किए गए बिंदुओं में से एक - किसी भी तर्क को संबोधित नहीं किया गया था। इसलिए, मैं इस मामले को निर्णय के लिए विद्वान एकल न्यायाधीश पर छोड़ता हूँ।

(11) उपरोक्त कारणों से, मेरा मानना है कि राज्य सरकार द्वारा 5 सितंबर, 1958 के अपने पत्र के माध्यम से जारी किए गए कार्यकारी निर्देश, क्लर्कों को सहायक पदों पर पदोन्नति के लिए पात्र होने के लिए एक विभागीय परीक्षा में अर्हता प्राप्त करने की आवश्यकता है, संविधान के अनुच्छेद 309 के तहत 1952 में जो नियमावली बनाई गई है, उसका उल्लंघन है, और प्रत्येक याचिकाकर्ता को राहत देने में, लचेस उनके रास्ते में बंध्य होंगे, जब तक कि वे इस न्यायालय में जाने में हुई देरी के बारे में संतोषजनक ढंग से स्पष्टीकरण न दें।अन्य मामलों का निर्धारण विद्वान एकल न्यायाधीश द्वारा किया जाएगा।

(12) याचिका अब विद्वान एकल न्यायाधीश के समक्ष सुनवाई के लिए रखी जाएगी, जो यदि आवश्यक हो, तो प्रत्येक याचिकाकर्ता को

लचेस के मामले में शपथ पत्र पर अपना मामला रखने का अवसर देगा। राज्य सरकार के साथ-साथ निजी उत्तरदाताओं को प्रत्येक व्यक्तिगत मामले के निपटारे से पहले उन शपथपत्र का विरोध करने का अवसर दिया जाएगा।

माननीय न्यायाधीश प्रीतम सिंह पट्टर : मैं सहमत हूँ और इसमें जोड़ने के लिए कुछ भी नहीं है।

माननीय न्यायाधीश एम. आर. शर्मा : मैं सहमत हूँ।

अस्वीकरण : स्थानीय भाषा में अनुवादित निर्णय वादी के सीमित उपयोग के लिए है ताकि वह अपनी भाषा में इसे समझ सके और किसी अन्य उद्देश्य के लिए इसका उपयोग नहीं किया जा सकता है । सभी व्यवहारिक और आधिकारिक उद्देश्यो के लिए निर्णय का अंग्रेजी संस्करण प्रमाणिक होगा और निष्पादन और कार्यान्वयन के उद्देश्य के लिए उपयुक्त रहेगा ।

ऋतु तंवर

प्रिशक्षु न्यायिक अधिकारी

(Trainee Judicial Officer)

हरियाणा न्यायिक सर्विसेज़